DOI: 10.51220/hjssh.v9i1.8

Himalayan J. Soc.Sci. & Humanities Vol- 9 pp.49 - 53, December, 2014, ISSN. 0975 - 9891

आधुनिक समय में लोकनाट्य की प्रासंगिकता

अजीत पंवार
लोक कला एवं संस्कृति निष्पादन केन्द्र
हे0न0ब0 गढ़वाल विश्वविद्यालय,श्रीनगर,(गढ़वाल)
मेल-panwar.ajeet18@gmail,com

Received: 27.10.2014 Revised: 29.11.2014 Accepted: 21. 12.2014

ABSTRACT

आज हमारी लोक संस्कृति, लोकपरम्पराएं लुप्त होने के कगार पर हैं। लोकनाट्य के समृद्ध कलाकार पुनः अज्ञात हैं अथवा आर्थिक दृष्टि से विपन्न। आधुनिकता के नाम पर उनका मूल सौन्दर्य नहीं रह गया है। बीच में काफी समय से लोक कलाओं, लोकनाट्यों के संरक्षण का, पुनः सृजन का स्वर उठा और बहुत अच्छे सांस्कृतिक कार्य भी हुए। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में इस विषय का विषद वर्णन किया है।

KEY WORDS- लोकनाट्य, प्रासंगिकता, आधुनिक स्वरूप

भारतीय नाट्य का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में इस विषय का विषद वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त धनंजय रचित 'दशरूपक' तथा विश्वनाथ कविराज लिखित 'साहित्य दर्पण' आदि ग्रन्थों में इस विषय पर बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध होती है। परन्तु भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' का महत्व सबसे अधिक है। यह ग्रन्थ नाट्य विद्या का मूल स्त्रोत है। नाटक की उत्पति के सम्बंध में 'नाट्यशास्त्र' में एक कथा दी गई है, जिससे यह पता चलता है कि इन्द्र तथा अन्य देवताओं ने सब लोगों के मनोरंजन के लिए ब्रह्मा से मनोविनोद के किसी साधन को देने की प्रार्थना की। वे लोग ऐसा साधन चाहते थे, जो श्रव्य तथा दृश्य दोनों ही हो तथा जिसमें सभी वर्णों के लोग समान रूप से भाग ले सके।[1] इसलिए पंचम वेद की रचना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हुई। इस प्रकार सभी वर्णों के मनोरंजन के लिए ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस को लेकर ब्रह्मा ने नाट्यवेद की सृष्टि की।[2] 'जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च। यजुर्वेदादभिनयं रसमाथर्वणादपि।' उपर्युक्त कथा से दो बातें स्पष्टतया प्रतीत होती हैं-(1) नाट्यवेद का निर्माण सभी वर्णों के लिए किया गया था। (2) इसके निर्माण का प्रधान कारण जन-मन का अनुरंनज था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नाटक की प्रस्तुति सार्वजनिक होती है तथा यह साधारण जनता के मनोरंजन का सबसे बड़ा साधन है। महाकवि कालिदास ने इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए लिखा है, कि नाटक विभिन्न प्रकार की अभिरुचि रखने वाले मनुष्यों के मनोविनोद का अद्वितीय साधन है।[3]

लोक शब्द का अर्थ-

जब हम साहित्य, समाज, संस्कृति और नाट्य जैसे शब्दों के पहले 'लोक' शब्द जोड़ देते हैं, तब उसका अर्थ अभिजात, सुसंस्कृत, सभ्य और शास्त्रीय कोटि से भिन्न हो जाता है। जो अभिजात नहीं है, सभ्य

©SHARAD

जगत की सांस्कृतिक सीमा-रेखाओं से परे है, और शास्त्र की संकरी पगड्डियों को छोड़कर सामान्य जन-जीवन की परम्पराओं, प्राथाओं, विश्वासों और रीतियों के बीच से होकर गुजरने का आदी है, उसे 'लोक' की संज्ञा दी जा सकती है।[4] कुछ लोग 'लोक' का अर्थ ग्राम्य समझते हैं, परन्तु ग्राम्य 'लोक' का एक अंशमात्र है और परिधि-विस्तार की दृष्टि से अपेक्षाकृत छोटा है। 'लोक' नागरिक, ग्रामीण, जंगली और उन सभी उपादनों का सम्मिलित रूप है जो शास्त्र-सापेक्ष्य नहीं होते और जिसमें आभिजात्य का समावेश नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए लोक साहित्य को लें। यह साहित्य से भिन्न कोटि की वस्तु है। यह लोक मानस की विराट अलिखित पुस्तक पर अंकित रहता है। यह भाषा, भाव और व्याकरण की बारीकियों का कोई खयाल नहीं करता, किन्तु अपनी सहज अभिव्यक्ति में लोक-चेतना का जीवन्त प्रतिबिम्ब होता है। लोक नाट्य इसी लोक साहित्य का अंग है। यद्यपि गीतों, कथा-कहानियों और विभिन्न प्रकार की लघु वार्त्ताओं (पहेली, कहावतें, मुहावरे आदि) की तुलना में लोक-नाट्य का कोई सुव्यवस्थित रूप नहीं होता, फिर भी लोक-जीवन के सामूहिक उल्लास और सुख-दु:ख की व्यंजना की दृष्टि से इनका महत्त्व कम नहीं है।[5] ऋतु-उत्सव, पर्वोत्सव, यज्ञ-अनुष्ठान तथा मनोरंजन के अन्य विविध अवसरों पर सामाजिक लोक नाट्यों का आयोजन होता है। लोकनाट्य में लोकजीवन की अपनी उन्मुक्ता और सहज स्वाभाविकता के साथ व्यक्त होता है। यह सामूहिक भावना से इतना सम्बद्ध है कि हम उसे किसी प्रकार के बन्धन में बांध ही नहीं सकते।[6] लोकनाट्य शास्त्र की सीमाओं को तोड़कर जीवन की असीमता के बीच से निकलता है इसलिए वहां अभिनय की सहजता और मानवीय भावों का घना संसार है।

लोक नाट्य की विशेषताएं

अन्य लोककलाओं की तरह ही किसी भी लोकनाट्य का कोई विशिष्ट रचयिता नहीं होता। वह समस्त समाज की अभिव्यक्ति का प्रतीक तथा अनेक प्रतिभाओं के सम्मिलित चमत्कार का एक साकार स्वरूप होता है। उसमें जन-जीवन की भावनाओं तथा उपलब्धियों की प्रतिछाया होती है तथा नाटक की सफलता-असफलता का भागीदार समस्त समाज होता है। लोक नाट्य की भाषा बड़ी सरल और सीधी-सादी होती है, जिसे कोई भी अनपढ़ व्यक्ति बड़ी आसानी से समझ सकता है तथा भाषा को आधुनिक रूप में भी आसानी से ढाला जाता रहा है। जिस प्रदेश या क्षेत्र में इन नाटकों का अभिनय होता है, नट लोग प्राय: वहीं की क्षेत्रीय बोली का प्रयोग करते हैं। इनकी भाषा काव्यमयी होती है, चूकिं ये नाटक सामूहिक अभिव्यक्ति के साधन हैं और पद्यात्मक संवादों द्वारा समूह की कल्पना शक्ति भावों को ग्रहण करने की सामर्थ्य रखते हैं, इसलिए इनमें गद्य का प्रभाव कम ही होता है।[7] इनके संवाद छोटे तथा सरल होते हैं। लोक नाटकों के कथानक अधिकतर पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक होते हैं। जगदीशचन्द्र माथुर के शब्दों में 'लोक नाटकों में कथानक प्राय: ढीला-ढाला होता है और पूर्वार्द्ध में जितनी विलम्बित गति से कथा बढ़ती है, उत्तरार्द्ध में उतनी ही द्रुत और अस्वाभाविक गति से घटनाओं को गति दी जाती है। किन्तु इससे अधिक कलात्मक वे लोक नाट्य होते हैं जिनमें घटनाओं के शिल्प विधान के स्थान पर जीवन की झांकियों की लड़ी होती है अथवा जिनमें पौराणिक और धार्मिक कथाओं का पूर्व परिचित दर्शक होता है। जो भी हो, लोक रंगमंच के दर्शक कथानक के चमत्कारपूर्ण अंश अथवा घटनाओं के कुतूहलपूर्ण उद्घाटन की आशा नहीं करते। ये प्राय: पहले ही से परिचित

होते हैं इसलिए कथा से प्राप्त मनोरंजन के अतिक्ति रसानुभूति द्वारा प्राप्त तृप्ति इनका उद्देश्य होता है। लोकनाट्य में प्राय: पुरूष ही विभिन्न पात्रों की भूमिका निभाते हैं। स्त्री पात्रों का कार्य भी पुरूष ही संपादित करते हैं। वे प्राय: जाने पहचाने एवं प्रचलित समाजगत प्रवृतियों के वाहक होते हैं जैसे-खूसट बुढा, छैला युवक, दुष्ट सास, शराबी पति, पाखन्डी साधु आदि। लोकनाट्यों में चरित्र चित्रण बड़ा स्वाभाविक होता है। पौराणिक नाटकों के जाने पहचाने चरित्र और अपने आस-पास के परिवेश में रहने वाले लोगों की नकल करके अपने चरित्र को एक नया रूप देते हैं। लोक नाट्यों में रूप सज्जा और वेश-भूषा किसी विशेष प्रकार के प्रसाधन, अलंकार तथा किसी बहुमूल्य वस्त्र आदि की आवश्यकता नहीं होती बल्कि कोयला, काजल, अंगार, खड़िया, चूना, फूलों के रंग आदि देशी प्रसाधनों से मुंह की सज्जा तथा उपयुक्त वेष-भूषा धारणकर पात्र मंच पर आते हैं। लोक नाट्यों के मंच खुले होते हैं। मंदिर के आंगन या चौराह पर किसी ऊंचे स्थान पर बल्लियों और तख्तों के सहारे मंच तैयार किया जाता है। इन रंगमंचों पर पर्दे नहीं होते इसलिए दृश्य की समाप्ति पर कोई पर्दा नहीं गिरता। सारी कथा अविच्छिन्न रूप से अभिनीत की जाती है, तथा दर्शक उसे बड़े धैर्य से देखते हैं।

लोक नाटक के प्रकार

भारतीय लोकनाट्य रूपों की व्यपकता, विविधता और लोकप्रियता निर्विवाद ही है। लोक नाट्य के रूप रंग और आस्वाद का प्रत्यक्ष सम्बन्ध भौगोलिक स्थिति और उस क्षेत्र में प्रचलित कथाओं-प्रसगों, संस्करों-व्यवहारों, रुचियों और नृत्य, गीत तथा संगीत के विविध रूपों से अनिवार्यत: दृष्टिगत होती है। भारत में कुछ लोकप्रिय लोक नाट्य इस प्रकार हैं- असम के 'अंकियानाट', बंगाल के 'जात्र', महाराष्ट्र के 'तमाशा', गुजरात के 'भवई', केरल के 'कूडियाट्टम', कर्नाटक के 'यक्षगान', उत्तप्रदेश के 'नौटंकी', 'रासलीला' और 'रामलीला', बिहार के 'बिदेसिया', मालवा के 'माच', मध्य प्रदेश के 'नाचा', कश्मीर के 'भांड पाथर', पंजाब के 'नकल', और राजस्थान के 'ख्याल' जैसे बहुचर्चित लोक नाटयों का मंचन प्राय दृष्टिगत होता रहता है।[8] सभी की प्रकृति अपने स्थानीय सौन्दर्य एक दूसरे की भिन्नता को लिए हुए आन्तरिक और पारम्परिक रूप में अत्यन्त जीवन्त रूप से समान है।

लोकनाट्य का प्रभाव

बहुत लम्बे समय तक, जिन लोकनाट्यों रूपों को हमने ग्राम्य, फुहड़, असंस्कृत, भौंड़े, और अश्लील कहकर अपने नगर कला जीवन से बहिष्कृत कर रखा था। आजादी के बाद अपनी मिट्टी और अपनी जड़ों की तलाश में हमने उन्हें न केवल सहर्ष खोजा और अपनाया बल्कि उनके पुनरूत्थान और संरक्षण की दिशा में ही महत्वपूर्ण प्रयास किए हैं। 'संगीत नाटक अकादमी' ने भी इस दिशा में सक्रियता दिखाकर राष्ट्रीय स्तर पर कुछ महत्वपूर्ण एवं रचनात्मक कार्य किए हैं और आज भी कर रही है। लोकनाट्य की स्वस्थ, वैज्ञानिक तथा मानव-स्पर्शी परम्पराओं ने आधुनिक नाट्यों को काफी मात्र में प्रभावित किया है। वे मानवीय भावनाओं तथा आकांक्षाओं का सही अर्थों में प्रतिनिधित्व करते हैं तथा उन्हें मानवीय अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है। वे मानवीय भावनाओं तथा आकांक्षाओं का सही अर्थों में प्रतिनिधित्व करते हैं तथा उन्हें मानवीय अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है।[9] आधुनिक नाट्यतंत्र ने नाटक को इतना जकड़ दिया है कि वह एक प्रकार से यंत्र

सा बन गया है। आधुनिक दृश्यविधान तथा यंत्र की चमत्कारिक उपलब्धियों ने दर्शकों को आश्चर्यचकित अवश्य कर दिया है, परन्तु उनकी आत्मा नाटक की आत्मा से आत्मसात नहीं करती। आधुनिक नाट्यों के उलझे हुए तंत्र से कलाप्रेमी जनता अब ऊब सी गई है इसलिए वह नाटक के मर्म तक पहुंचना चाहती है। वह आधुनिक तकनीकि और ध्वनिविस्तारक यंत्र के माध्यम से संगीत का स्वाद नहीं लेना चाहती है। दर्शक अभिनेता के कंठ से स्वस्फूर्त हुई असली आवाज का रसास्वदन करना चाहता है। दर्शकों की यह अभिलाषा आधुनिक बहुतंत्री नाटकों से कभी पूरी नहीं हो सकती। रंगमंचीय नाटक को फिल्मी की नकल नहीं बनाकर वास्तविक नाट्यमंच बनाने की चेष्टा सर्वत्र दृष्टिगत हो रही है। यही कारण है कि आज का नाटक लोकनाट्योन्मुखी हो रहा है और उसकी प्रासंगिता दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

लोक नाट्य का आधुनिक स्वरूप

जिस तरह लोकनाट्यों में पृष्ठभूमि की दीवार या परदे के सहारे सभी काम सम्पन्न हो जाते हैं उसी तरह आधुनिक नाटकों में भी एक ही परदे के सहारे सभी काम पूर्ण हो जाते हैं। जिस तरह संगीतकरों तथा वाद्यकारों को लोकनाट्यों में खुले स्थान पर बिठाया जाता है, उसी तरह आधुनिक नाट्यों में भी अब संगीतकारों को छुपाया नहीं जाता, बल्कि सार्वजनिक किया जाता है। आधुनिक नाटकों में रंगमंचीय विधान, वेशविन्यास, नाट्यरचना आदि में जो प्रतीकात्मक शैली का अनुसरण किया जा रहा है, वह सब लोक नाट्य की देन हैं। लोक नाट्य की यह परम्परा आधुनिक नाट्यरचना में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है इसलिए वर्तमान समय में लोक नाट्य की प्रासंगिकता शनैः शनैः बढ़ती जा रही है।

पिछले दो दशकों में कई प्रकार से पारम्परिक नाट्यों के साथ हमारे देश के रंगकर्म का रिश्ता जुड़ा है, यहां तक कि पिछले एक दशक में समकालीन भारतीय रंगमंच पर होने वाले मौलिक, सार्थक और उत्तेजक रंगकार्य का नाटक तथा अभिनय-प्रदर्शन में बहुत बड़ा हिस्सा वही है जो किसी न किसी स्तर पर पारम्परिक नाट्य दृष्टि, पद्धतियों या शैलियों से प्रभावित है। नाटक लेखन में विजय तेंडुलकर का 'घासीराम कोतवाल', सतीश आलेकर का 'महानिर्वाण', गिरीश कारनाड का 'हयवदन', चन्द्रशेखर का कम्बार का 'जोकुमार स्वामी', मणि मधुकर का 'रसगधव', सर्वेश्वर सक्सेना का 'बकरी'। ये सभी रंगकर्मी पारम्परिक नाट्यों की पद्धतियों, रूढ़ियों, युक्तियों, बुनावट का इस्तेमाल करते हैं।[10] इनमें यथार्थ अयथार्थ लौकिक अलौकिक के मिश्रण और फैंटेसी तथा आनुष्ठानिक क्रियाओं के अलावा, काव्य, गीत, पूर्वरंग, सूत्रधार, वाचक आदि पारम्परिक लोक नाट्यों का प्रयोग है। प्रदर्शन और अभिनय में तो एक नई भारतीय रंगशैली ही रूप ले रही है, जो संगीत, नृत्य, देश-काल की रूढ़िमूलक अभिव्यक्ति, वस्तुओं और स्थानों के अभिनटन, मुखौटे तथा अन्य कई प्रकार की रीतिबद्धता द्वारा लोक नाट्यों के नए सृजनात्मक प्रयोग पर आधारित है। भारत के प्रसिद्ध रंगकर्मियों ब0व0 कारन्त, जब्बार पटेल, सतीश आलेकर, रतन थियम, कावालम नारायण पणिक्कर, बंसी कौल, हबीब तनवीर आदि ने अपने नाटकों में लोकनाट्यों का प्रयोग करके उसको प्रासंगिक बना दिया है। शांता गांधी लिखित निर्देशित बहुचर्चित भवई शैली में जसमा ओडन नाटक प्रस्तुत किया गया था। इसमें गुजरात के लोक नाट्य भवई के मूल तत्वों का रचनात्मक समन्वय हुआ था।

परिहार

उपरोक्त बातों से यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है कि रंगमंचीय प्रस्तुतीकरण तथा रचना विधान की दृष्टि से आज के अधिकांश भारतीय अपने नाटकों में लोकनाट्यशैली का अनुसरण करने लगे है। वेषभूषाएं, अभिव्यंजनाएं, संगीत तथा रंगमंचीय विधान सभी लोकनाट्यों से प्रेरित हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि आधुनिक लोक नाट्यों की साज-सज्जा तथा रंगमंचीय रचनाओं में लोकनाट्य सर्वोपरि है। आज हमारी लोक संस्कृति, लोकपरम्पराएं लुप्त होने के कगार पर हैं। लोकनाट्य के समृद्ध कलाकार पुनः अज्ञात हैं अथवा आर्थिक दृष्टि से विपन्न। आधुनिकता के नाम पर उनका मूल सौन्दर्य नहीं रह गया है। बीच में काफी समय से लोक कलाओं, लोकनाट्यों के संरक्षण का, पुनः सृजन का स्वर उठा और बहुत अच्छे सांस्कृतिक कार्य भी हुए। आठवें दशक में लोकनाट्य शैली के प्रयोगों की पुनः सृजन की एक लहर-सी आयी। कुछ बहुत सर्जनात्मक कार्य हुए भी लेकिन वहीं जहां लोक में जड़े गहरी थी।

अतः स्पष्ट है कि ईमानदारी, निष्ठा, कल्पनाशीलता, समझ और समकालीन प्रासंगिकता एवं सार्थकता के बल पर ही हम अपने आधुनिक भारतीय रंगकर्म और लोक नाट्य रूपों के पारम्परिक सम्बन्धों को जीवन्त, अर्थपूर्ण और रचनात्मक बना सकते हैं। यह एक लम्बा और कठिन रास्ता है जिस पर हमें धौर्य से चलना है।

सन्दर्भ सूची

1. नाट्यशास्त्र 1।17 ।
2. वही 1।17-18।
3. नाटयं भिन्न रुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्-शाकुन्तल।
4. महाभाष्यकार पातंजलि ने भी 'लोक' का अर्थ 'सामान्य जीवन' और शिष्ट का विपरीतार्थक माना है।
5. पृथ्वीराज कपूर अभिनंदन ग्रंथ, देवदत्त शास्त्री, किशलय मंच इलाहबाद, 1961, पृष्ठ-9।
6. बीसवीं शताब्दी का हिन्दी नाटक और रंगमंच, गिरीश रस्तोगी, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, 2004, पृष्ठ-19।
7. लोक धर्मी नाट्य परम्परा, श्याम परमार, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, 1959, पृष्ठ-11।
8. रंगमंच, बलवन्त गार्गी, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 1966, पृष्ठ-92।
9. लोकधर्मी प्रदर्शनकारी कलाएं, देवीलाल सामर, भारतीय लोककला मण्डल,उदयपुर,1968, पृष्ठ-262।
10. रंगदर्शन, नेमिचन्द्र जैन, राधाकृष्णन प्रकाशन नई दिल्ली, 1993, पृष्ठ-102।